इस्लामी अर्थ व्यवस्था के सिद्धान्त और उद्देश्य

मौलाना सैयद अबूल आला मौदूदी

अनुवाद
नसीम ग़ाज़ी फ़लाही

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
शुरु अल्लाह कृपाशील दयावान के नाम से

(यह एक भाषण है जो मौलाना मौदूदी (रह०) ने १७ दिसम्बर १९६५ ई० को पंजाब विश्वविद्यालय की एक विचार गोष्ठी में दिया था।)

सज्जनो ! मुझे कुछ विशेष प्रश्नों पर अपनी राय प्रकट करने के लिए आमंत्रित किया गया है। इन सवालों को मैं सबसे पहले पढ़कर सुना देता हूँ, ताकि आप को मालूम हो जाए कि जिन बातों पर विचार-विमर्श करना है उनकी हदें क्या हैं।

प्रश्न : पहला सवाल यह है कि क्या इस्लाम ने कोई आर्थिक व्यवस्था निर्धारित की है ? अगर की है तो उस व्यवस्था की रूपरेखा क्या है ? और उसमें भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध का क्या स्थान है ?

दूसरा सवाल यह है कि क्या ज़कात और सदक़े को आर्थिक भलाई के लिए प्रयोग किया जा सकता है ?

तीसरा प्रश्न यह है कि क्या हम ऐसी आर्थिक व्यवस्था चला सकते हैं जो ब्याज से मुक्त हो ?

और चौथा प्रश्न यह है कि इस्लाम की दृष्टि में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक मामलों का आपस में क्या सम्बन्ध है ?

पहले प्रश्न का उत्तर

इन सवालों में से एक-एक सवाल ऐसा है कि अगर आदमी उस के विस्तार में जाए तो एक किताब लिखी जा सकती है, लेकिन मैं

यह सोच कर कि मेरे श्रोता उच्च शिक्षित वर्ग के लोग हैं, जिन के लिए केवल संकेत काफ़ी हो सकते हैं, इन में से हर सवाल पर संक्षेप में बात करूंगा।

इस्लाम किन अर्थों में हमें एक आर्थिक व्यवस्था देता है ?

पहले सवाल के दो हिस्से हैं। एक यह कि क्या इस्लाम ने कोई आर्थिक व्यवस्था निर्धारित की है और अगर की है तो उस की रूप-रेखा क्या है ? और दूसरा हिस्सा यह कि उस रूप-रेखा में भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध का क्या स्थान है ? सवाल के पहले हिस्से का जवाब यह है कि इस्लाम ने निस्संदेह एक आर्थिक व्यवस्था पेश की है, परन्तु इस का अर्थ यह नहीं है कि उसने प्रत्येक ज़माने के लिए विस्तार के साथ एक आर्थिक व्यवस्था बना कर दे दी है, जिस में आर्थिक जीवन से सम्बन्धित सारी बातें विस्तारपूर्वक नियत कर दी गई हों, बल्कि वास्तव में इसका मतलब यह है कि उनमें हमें ऐसे मूल सिद्धांत दिए गये हैं जिन के आधार पर हम हर ज़माने के लिए एक आर्थिक व्यवस्था स्वयं बना सकते हैं। इस्लाम का नियम यह है, जो क़ुरआन और हदीस को ध्यानपूर्वक पढ़ने से अच्छी तरह समझ में आ भी जाता है, कि जीवन के हर विभाग के सम्बन्ध में वह एक प्रकार से उस की सीमाएं नियत कर देता है और हमें बता देता है कि ये सीमाएं हैं जिन में तुम अपने जीवन के इस विभाग का निर्माण करो। इन सीमाओं से बाहर तुम नहीं जा सकते, लेकिन इन के अन्दर रह कर तुम अपनी परिस्थितियों, आवश्यकताओं और अनुभवों के अनुसार तफ़सीली चीज़ें स्वयं तय कर सकते हो। निजी ज़िन्दगी के मामलों से लेकर सभ्यता और संस्कृति के सभी विभागों तक इस्लाम ने इंसानों की रहनुमाई इसी ढंग पर की है और उसके मार्ग-दर्शन का यही तरीक़ा हमारी आर्थिक व्यवस्था के

बारे में भी है। यहां भी उसने कुछ सिद्धान्त हम को दे दिए हैं और कुछ सीमाएं नियत कर दी हैं, ताकि उनके अंदर हम अपनी आर्थिक व्यवस्था को रूप दे सकें। तफ़सीली बातें तय करने का काम प्रत्येक ज़माने के लिहाज़ से होना चाहिए और ऐसा ही होता भी रहा है। आप देखेंगे कि इन्हीं सीमाओं के अंदर हमारे फ़क़ीहों (धर्म विधिज्ञों) ने अपने ज़माने में आर्थिक व्यवस्था के आदेश बड़े ही विस्तार के साथ संकलित किए हैं, जो इस्लामी विधि शास्त्रों में हमें मिलते हैं। उन्होंने जो कुछ संकलित किया है वह उन सिद्धान्तों से लिया गया है जो इस्लाम ने दिए हैं और उन सीमाओं के अंदर हैं जो सीमाएं उसने निश्चित कर दी हैं। उन तफ़सीली चीज़ों में से जो चीज़ें आज भी हमारी आवश्यकताओं को पूरी करती हैं, उन को हम वैसे का वैसा ही ले लेंगे और जो नई आवश्यकतायें अब हमें पेश आ रही हैं, उन के लिए हम दूसरे और आदेश उद्धृत कर सकते हैं लेकिन वे अनिवार्यतः इस्लाम के दिए हुए सिद्धान्तों से उद्धृत होने चाहिएं और उसकी नियत की हुई सीमाओं से मर्यादित होने चाहिएं।

इस्लामी आर्थिक व्यवस्था के मूल उद्देश्य

इससे आप समझ सकते हैं कि जब हम कहते हैं कि इस्लाम की एक आर्थिक व्यवस्था है तो उस का मतलब क्या होता है। अब जो सिद्धान्त इस्लाम ने हम को दिए हैं उन को बयान करने से पहले मैं चाहता हूँ कि आप उन उद्देश्यों (Objectives) को अच्छी तरह समझ लें, जिनका ध्यान इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था में रखा गया है। क्योंकि इसके बिना उन सिद्धांतों को न तो भलीभांति समझा जा सकता है और

न परिस्थितियों और आवश्यकताओं पर उन्हें लागू किया जा सकता है और न विस्तृत आदेश उन सिद्धांतों की असल रूह के अनुसार प्राप्त किए जा सकते हैं।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा

पहली चीज़ जो अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में इस्लाम अपने सामने रखता है, वह यह है कि मनुष्य की आज़ादी की रक्षा हो और पाबन्दी उस हद तक लगाई जाए जिस हद तक मानव जाति के कल्याण के लिए अनिवार्य है। इस्लाम इन्सान की आज़ादी को बड़ा महत्व देता है। इस की वजह यह है कि इस्लाम में प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत रूप में अल्लाह के सामने उत्तरदायी है। यह उत्तरदायित्व केवल सामूहिक नहीं है बल्कि असल में प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप में अलग-अलग उत्तरदायी है और उसे अलग-अलग अपने कर्मों का हिसाब देना है। इस उत्तरदायित्व के लिए ज़रूरी है कि इंसान को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का ज़्यादा से ज़्यादा अवसर उसकी ख़ुद अपनी रुचियों, अपनी योग्यताओं और अपने चुनावों के अनुसार दिया जाए। यही कारण है कि इस्लाम लोगों के लिए नैतिक और राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ उनकी आर्थिक स्वतंत्रता को भी महत्व देता है। अगर व्यक्ति को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त न हो तो उसकी नैतिक और राजनैतिक स्वतंत्रता का भी अंत हो जाता है। आप स्वयं सोच सकते हैं कि जो व्यक्ति अपने आर्थिक मामले में किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था या हुकूमत पर आश्रित हो वह अगर अपना कोई स्वतंत्र मत रखता भी हो तो वह अपने उस मत के अनुसार कार्य करने में स्वतंत्र नहीं हो सकता। इसलिए इस्लाम

आर्थिक व्यवस्था के लिए हमको ऐसे सिद्धान्त देता है, जिन से व्यक्ति के लिए अपनी रोज़ी कमाने के मामले में ज़्यादा से ज़्यादा आज़ादी प्राप्त रहे और उस पर सिर्फ़ उतनी पाबन्दी लगाई जाए जितनी वास्तव में मानव कल्याण के लिए अनिवार्य है। इसीलिए इस्लाम राजनैतिक व्यवस्था भी ऐसी चाहता है जिस में हुकूमत लोगों के स्वतंत्र मतों से बने, लोगों को अपनी इच्छा से उसको बदलने का अधिकार प्राप्त हो, लोगों के या उनके विश्वासपात्र प्रतिनिधियों के मशविरे से उस का शासन चलाया जाए। लोगों को उस में आलोचना करने और अपना मत प्रकट करने की पूरी आज़ादी हो और हुकूमत को अमर्यादित अधिकार प्राप्त न हों बल्कि उसे उन सीमाओं के अन्दर ही रह कर काम करने का अधिकार हो, जो क़ुरआन और सुन्नत के सर्वोच्च क़ानून ने उस के लिए निर्धारित कर दी हैं। इस के अतिरिक्त इस्लाम में अल्लाह की तरफ़ से लोगों के मूल-अधिकारों को स्थाई रूप से नियत कर दिया गया है, जिन्हें छीनने का किसी को अधिकार नहीं है। यह सब कुछ इसलिए है कि लोगों की स्वतंत्रता सुरक्षित रहे और निरंकुशता की कोई ऐसी शासन व्यवस्था थोपी न जाए, जिस में मानव व्यक्तित्व का विकास ठिठर कर रह जाए।

नैतिक सुधार पर ज़ोर और दबाव का क़म से कम प्रयोग

दूसरी बात यह है कि इस्लाम इंसान के नैतिक विकास को बुनियादी महत्व देता है और इस उद्देश्य के लिए आवश्यक है कि समाज की सामूहिक व्यवस्था में व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक भले काम करने के अधिक से अधिक अवसर प्राप्त हों, ताकि इंसानी ज़िन्दगी में दानशीलता,

सहानुभूति, उपकार और अन्य नैतिक गुण क्रियात्मक रूप ले सकें। इसी कारण आर्थिक न्याय स्थापित करने के लिए इस्लाम केवल क़ानून पर निर्भर नहीं करता बल्कि इस मामले में वह सब से बढ़ कर जिस चीज़ को महत्व देता है वह यह है कि ईमान, इबादत, शिक्षा और नैतिक सुधार के माध्यम से इंसान के दिल-दिमाग़ को सुधारा जाए, उसकी रुचि को बदला जाए, उसके सोचने के ढंग को बदला जाए और उसके अंदर एक मज़बूत नैतिक चेतना (Moral Sense) पैदा की जाए, जिस से वह स्वयं न्याय पर जम सके। इस सब उपायों से जब काम न चले तो मुसलमानों के समाज को इतना जीवन्त होना चाहिए कि वह अपने सामूहिक दबाव से आदमी को नियमों का पाबन्द रख सके। इस से भी जब काम न चले तब इस्लाम क़ानून की ताक़त इस्तेमाल करता है ताकि बलपूर्वक न्याय स्थापित किया जाए। इस्लामी दृष्टि से हर वह सामूहिक व्यवस्था ग़लत है जो न्याय की स्थापना के लिए सिर्फ़ क़ानून की ताक़त पर भरोसा करे और मनुष्य को इस तरह बांध कर रख दे कि उसे स्वेच्छापूर्वक भलाई करने का सामर्थ्य ही प्राप्त न हो।

तीसरी बात यह है कि इस्लाम इस बात का अलमबरदार है कि सारे मनुष्य एक हैं और भाई-भाई हैं और वह पारस्परिक टकरावों और अनुचित संघर्ष का विरोधी है। इसी लिए वह मानव समाज को वर्गों में विभाजित नहीं करता और स्वाभाविक रूप से जो वर्ग पाए जाते हैं उनको वर्गीय संघर्ष (Class Struggle) के बजाए सहानुभूति और सहयोग के पथ पर लाता है। मानव समाज का अगर आप विश्लेषण करेंगे तो आप को मालूम होगा कि यहां दो प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं। पहली प्रकार के वे वर्ग हैं जिनको कृत्रिम रूप से एक अत्याचारपूर्ण राजनैतिक, सामाजिक, और आर्थिक व्यवस्था अनुचित ढंग से पैदा करती

ै और फिर ज़बरदस्ती उनको बाक़ी रखती है। मिसाल के तौर पर
ो वर्ग जिन्हें ब्रह्मणवाद ने पैदा किए या वे जिन्हें जागीरदारी व्यवस्था
Feudal System) ने पैदा किए या वे जिन्हें पाश्चात्य की पूंजीवादी व्यवस्था
Western Capitalist System) ने जन्म दिया। इस्लाम न तो स्वयं ऐसे
वर्गों को पैदा करता है और न उनको बाक़ी रखना चाहता है, बल्कि
वह तो अपनी सुधार नीति और क़ानूनी प्रयत्नों से उनको ख़त्म कर
देता है। दूसरे प्रकार के वर्ग वे हैं जो इंसानी योग्यताओं के अंतर और
मानवीय परिस्थितियों के अंतर के कारण स्वभावत: पैदा हो जाते हैं
और स्वाभाविक ढंग पर ही बदलते रहते हैं। इस्लाम ऐसे वर्गों को
न ज़बरदस्ती मिटाता है, न उनको स्थाई वर्गों में परिवर्तित करता है
और न उन्हें आपस में लड़ाता है, बल्कि वह अपनी नैतिक, राजनैतिक,
सामाजिक और आर्थिक प्रणाली के द्वारा उनके बीच संतुलित न्यायसंगत
सहयोग की भावना पैदा करता है, उनको एक दूसरे का हमदर्द, मददगार
और सहयोगी बनाता है और तमाम लोगों के लिए अवसरों में समानता
(Equality of Opportunities) जुटा कर ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देता
है जिन में ये वर्ग स्वाभाविक तरीक़े से घुलते-मिलते और परिवर्तित
होते रहते हैं।

इस्लामी अर्थ व्यवस्था के मूल सिद्धांत

ये तीन चीज़ें हैं जिन को आप ध्यान रखें तब इस आर्थिक व्यवस्था
के सिद्धान्त अपने वास्तविक अर्थ के साथ आप की समझ में आ सकेंगे।
अब इस आर्थिक व्यवस्था के जो बड़े-बड़े सिद्धांत हैं वे मैं संक्षेप में
आप के सामने रखता हूँ।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का सीमित अधिकार

इस्लाम कुछ विशेष सीमाओं के अंदर व्यक्तिगत सम्पत्ति की स्वीकृति देता है और व्यक्तिगत सम्पत्ति के मामले में वह पैदावार के साधनों (Means Of Production) और उपयोग्य वस्तुओं (Conusmer Goods) के बीच या मेहनत से कमाई हुई आमदनी (Earned Income) और मेहनत के बग़ैर कमाई हुई आमदनी (Unearned Income) के बीच अंतर नहीं करता। वह मनुष्य को सम्पत्ति का आम अधिकार प्रदान करता है परन्तु उसको कुछ सीमाओं से मर्यादित कर देता है। इस्लाम में यह धारणा नहीं है कि पैदावार के साधनों और उपभोग्य वस्तुओं में अन्तर करके पैदावार के साधनों को व्यक्तिगत सम्पत्ति से अलग कर दिया जाए और केवल उपभोग्य वस्तुओं की हद तक उसको सीमित कर दिया जाए। इस्लामी दृष्टि से एक व्यक्ति जिस प्रकार कपड़े बर्तन और घर का फ़र्नीचर रखने का अधिकारी है, उसी तरह वह ज़मीन, मशीन और कारख़ाने रखने का भी अधिकार रखता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति जिस तरह स्वयं अपनी मेहनत से कमाई हुई दौलत का जायज़ मालिक हो सकता है, उसी तरह वह अपने बाप या मां या पत्नी या पति की छोड़ी हुई दौलत का भी मालिक हो सकता है और वह भागीदारी के सिद्धान्त पर एक ऐसी कमाई में भागीदार भी बन सकता है जो उसके दिए हुए धन पर काम करके एक दूसरे व्यक्ति ने अपनी मेहनत से हासिल की हो। इस्लाम एक तरह के सम्पत्ति अधिकार और दूसरी तरह के सम्पत्ति अधिकार के बीच इस रूप से अन्तर नहीं करता कि यह पैदावार के साधनों से सम्बन्धित है या उपभोग्य वस्तुओं से या यह मेहनत से कमाई

हुई दौलत है या मेहनत के बग़ैर कमाई हुई दौलत। बल्कि वह इस लिहाज़ से अंतर करता है कि यह वैध साधनों से आई है या अवैध साधनों से, और इसका प्रयोग आप सही तरीक़े से करते हैं या ग़लत तरीक़े से। इस्लाम में पूरे आर्थिक जीवन का नक़्शा इस ढंग पर बनाया गया है कि मनुष्य कुछ हदों के अंदर अपनी रोज़ी कमाने के लिए स्वतंत्र है। अभी मैं आप से अर्ज़ कर चुका हूं कि इस्लाम की दृष्टि में मनुष्य की स्वतंत्रता असाधारण महत्त्व रखती है और इस स्वतंत्रता पर ही वह मनुष्यता की उन्नति एवं विकास की पूरी इमारत निर्मित करता है। रोज़ी कमाने के साधनों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का हक़ देना इंसान की आज़ादी की रक्षा के लिए ज़रूरी है। अगर व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार उस से छीन लिया जाये और कमाई के समस्त साधनों पर सामूहिक स्वामित्व क़ायम कर दिया जाए तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता अनिवार्यतः समाप्त हो जाती है। क्योंकि इस के बाद तो समाज के सारे लोग उस संस्थान के नौकर बन जाते हैं, जिस के हाथ में पूरे राज्य के रोज़गार के साधनों का कन्ट्रोल हो।

समान वितरण के बजाय धन का न्याय-संगत वितरण

इस्लामी अर्थ-व्यवस्था का एक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वह धन के समान (Equal) वितरण के बजाए न्यायसंगत (Equitable) वितरण चाहता है। उसके सामने यह बात बिल्कुल नहीं है कि सारे इंसानों के बीच जीवन-साधनों को समान रूप से वितरित किया जाये। क़ुरआन मजीद को जो व्यक्ति भी पढ़ेगा उस को स्पष्ट रूप से मालूम हो जाएगा कि अल्लाह के इस जगत में कहीं भी समान रूप से वितरण

नहीं पाया जाता—समान वितरण तो है ही अप्राकृतिक चीज़—ज़रा विचार तो करें, क्या सारे मनुष्यों की स्मरण शक्ति बराबर है ? क्या सारे मनुष्य सौंदर्य में, शक्ति में, योग्यता में बराबर हैं ? क्या सारे मनुष्य जन्म की एक ही तरह की परिस्थितियों में आंखें खोलते हैं और दुनिया में काम करने के लिए भी सबको एक ही तरह की परिस्थितियां मिलती हैं ? अगर इन सारी चीज़ों में बराबरी नहीं है तो पैदावार के साधनों या धन के वितरण में समानता का क्या अर्थ। यह चीज़ व्यावहारिक रूप से सम्भव ही नहीं है और जहां भी कृत्रिम रूप से इस की कोशिश की जाएगी तो वह अनिवार्यतः असफल होगी और इस के ग़लत परिणाम सामने आयेंगे। इसी लिए इस्लाम यह नहीं कहता कि आर्थिक साधनों और आर्थिक लाभों को बराबर-बराबर वितरित होना चाहिए, बल्कि वह कहता है कि इन चीज़ों का वितरण न्यायसंगत रूप से होना चाहिए और इस न्याय के लिए वह कुछ नियम निर्धारित करता है।

कमाई के साधनों में हलाल और हराम का अन्तर

इन नियमों में से सर्वप्रथम नियम यह है कि धन प्राप्त करने के साधनों में इस्लाम ने हराम और हलाल का अन्तर रखा है। एक तरफ़ वह व्यक्ति को यह अधिकार देता है कि वह स्वतंत्र ढंग से प्रयास कर के अपनी रोज़ी हासिल करे। इस तरह वह जो कुछ कमाये वह उसकी सम्पत्ति है। दूसरी तरफ़ प्रयास करने के तरीक़ों में उसने हराम और हलाल की सीमाएं निर्धारित कर दी हैं। इस्लामी व्यवस्था की दृष्टि से एक व्यक्ति वैध-साधनों से अपनी रोज़ी कमाने में पूरी तरह स्वतंत्र है, जिस तरह चाहे और जितना चाहे कमाये। उस कमाये हुए माल

का वह जायज़ मालिक है। कोई उस की जायज़ सम्पत्ति को सीमित करने का या उससे छीन लेने का अधिकार नहीं रखता। परन्तु अवैध साधनों से एक दाना प्राप्त करने का भी वह हक़ नहीं रखता। इस कमाई से रुक जाने के लिए उसे बाध्य किया जाएगा। ऐसी कमाई से हासिल की हुई दौलत का वह जायज़ मालिक नहीं है। उस के अपराध के आकार-प्रकार को देखते हुए उसको क़ैद और जुर्माने की सज़ा दी जाएगी तथा उसका माल भी ज़ब्त किया जा सकता है और अपराध करने से उसे रोकने के लिए उपाय भी अपनाये जायेंगे।

जिन साधनों को इस्लाम ने अवैध बताया है वे ये हैं : ख़ियानत, रिश्वत, अपहरण करना, बैतुलमाल (ख़ज़ाना) में ग़बन, चोरी, नाप-तौल में कमी, अश्लीलता फैलाने वाले कारोबार, वेश्यावृति (Prostitution) शराब और अन्य नशावर चीज़ों का उत्पादन और व्यापार, ब्याज, जुआ, सट्टा और क्रय-विक्रय के वे सभी ढंग जो धोखे या दबाव पर आधारित हों या जिन से झगड़े और फ़साद पैदा होते हों या जो न्याय और लोकहित के विरुद्ध हों। इन सभी साधनों पर इस्लाम क़ानूनी प्रतिबंध लगा देता है। इन के अलावा वह जमाख़ोरी (Hoarding) को निषेध घोषित करता है और ऐसी ठेकेदारियों को रोक देता है जो किसी उचित कारण के बिना धन और उस को हासिल करने के साधनों से आम लोगों को लाभान्वित होने के अवसरों से वंचित कर देती हों।

इन तरीक़ों को छोड़ कर आदमी वैध साधनों से जो धन भी कमाएगा वह उसकी हलाल कमाई होगी। उस हलाल कमाई से वह स्वयं भी फ़ायदा उठा सकता है और प्रदान या भेंट द्वारा दूसरों की तरफ़ स्थानान्तरित भी कर सकता है। वह उसे और अधिक धन कमाने के लिए भी इस्तेमाल कर सकता है और अपने वारिसों के लिए मीरास भी छोड़ सकता है।

इस वैध कमाई पर कोई पाबन्दी ऐसी नहीं है जो उसे किसी हद पर जाकर और अधिक कमाने से रोक देती हो। एक व्यक्ति हलाल कमाई से करोड़पति बन सकता हो तो इस्लाम उसके रास्ते में रुकावट नहीं बनता। आदमी आर्थिक क्षेत्र में जितनी उन्नति भी चाहे करे, मगर वैध साधनों से करे। यद्यपि वैध साधनों से करोड़पति बनना आसान काम नहीं है। किसी पर अल्लाह की असाधारण कृपा हो जाए तो हो जाए वरना वैध साधनों से करोड़पति बन जाने की सम्भावना कम ही होती है। लेकिन इस्लाम किसी को बांध कर नहीं रखता, वैध साधनों से वह जितना चाहे कमाये, उसके रास्ते में कोई रुकावट नहीं है। क्योंकि अनुचित रुकावटों और पाबन्दियों से मनुष्य के लिए मेहनत करने की कोई प्रेरक चीज़ (Incentive) बाक़ी नहीं रहती।

धन-प्रयोग के तरीक़ों में हलाल और हराम का अन्तर

इसके बाद जो धन आदमी को प्राप्त होता है उसके इस्तेमाल पर फिर पाबन्दियां लगा दी गई हैं।

इस के इस्तेमाल की एक सूरत यह है कि आदमी उसे अपने ऊपर सर्फ़ करे। इस ख़र्च पर इस्लाम ऐसी पाबन्दियां लागू करता है, जिनसे वह आदमी के अपने नैतिक स्वभाव और समाज के लिए किसी प्रकार हानिकारक सिद्ध न हो सके। वह शराब नहीं पी सकता, व्यभिचार नहीं कर सकता, जुएबाज़ी में अपनी दौलत नहीं उड़ा सकता, वह भोग-विलास की कोई ऐसी सूरत नहीं अपना सकता, जो नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध हो। वह सोने और चांदी के बर्तन प्रयोग में नहीं ला सकता, यहां तक कि अगर वह रहन-सहन में बहुत ज़्यादा शान-शौकत दिखाए

ो उस पर भी पाबन्दी लगाई जा सकती है।

दूसरी सूरत यह है कि आदमी आमदनी का थोड़ा बहुत हिस्सा बचा ले और उसे रोके रहे तो इस्लाम इसको पसन्द नहीं करता। वह चाहता ै कि जो धन भी किसी के पास बच गया है वह रुक कर न रह जाए, बल्कि जायज़ तरीक़े से गतिशील रहे। रुके हुए धन पर इस्लाम एक वेशेष नियम के अनुसार ज़कात देनी अनिवार्य ठहराता है, ताकि इसका एक भाग अनिवार्यतः वंचित वर्गों और सार्वजनिक सेवाओं में इस्तेमाल ो सके। आप क़ुरआन मजीद में देखेंगे कि जिन बातों को उसमें अत्यन्त नेन्दित ठहराया गया है, उनमें से एक यह है कि मनुष्य ख़ज़ाने जमा करने की कोशिश करे। क़ुरआन कहता है कि जो लोग सोने और चांदी क भंडार जमा करते हैं, उनका जमा किया हुआ सोना-चांदी नरक में उनको दाग़ने के काम में लाया जाएगा। इसका कारण यह है कि अल्लाह ा धन को मानव जाति के फ़ायदे के लिए पैदा किया है। उसे रोक कर रख लेने का अधिकार किसी को नहीं है। आप वैध साधनों से कमाइये और अपनी आवश्यकताओं पर ख़र्च क़ीजिए और जो कुछ बचे उसे किसी न किसी जायज़ तरीक़े से गतिशील रखिए।

इसी लिए इस्लाम जमाख़ोरी को भी मना करता है। जमाख़ोरी का अर्थ यह है कि आप आवश्यकता की चीज़ों को जान-बूझ कर इसलिए ोक कर रखें ताकि बाज़ार में वह काम आ सकें और मूल्य चढ़ जाएं। यह काम इस्लामी क़ानून में हराम है। आदमी को सीधी तरह व्यापार करना चाहिए। अगर आप के पास कोई माल बेचने के लिए मौजूद ो और बाज़ार में उसकी मांग है तो इसका कोई उचित कारण नहीं कि आप उसे बेचने से इंकार करें। जान-बूझ कर आवश्यकताओं की चीज़ों की कमी पैदा करने के लिए बेचने से इंकार कर देना आदमी

को व्यापारी के बजाए लुटेरा बना देता है।

इसी कारण इस्लाम अनुचित प्रकार की ठेकेदारियों का भी विरोधी है, क्योंकि वे आम लोगों को आर्थिक साधनों से लाभान्वित होने मे रुकावट बनती हैं। इस्लाम इसको ज़ायज़ नहीं रखता कि रोज़ी कमाने के कुछ अवसर और साधन कुछ विशेष व्यक्तियों, परिवारों के लिए ख़ास कर दिए जाएं, और अगर दूसरे लोग इस मैदान में आना चाहे तो उन के रास्ते में रुकावट डाल दी जाए। ठेकेदारी अगर किसी तरह की जायज़ है तो केवल वह जो सामूहिक हितों के लिए अवश्यंभावी हो, वरना सैद्धांतिक रूप से इस्लाम यह चाहता है कि कोशिशों का मैदान सब के लिए खुला रहे और प्रत्येक व्यक्ति को उसमें हाथ-पांव मारने के अवसर उपलब्ध रहें।

बचे हुए धन को अगर कोई व्यक्ति और अधिक धन कमाने में लगाना चाहे तो यह केवल उन तरीक़ों से लगाया जा सकता है जो रोज़ी कमाने के लिए इस्लाम में हलाल बतलाए गये हैं। हराम तरीक़े जिनका मै पहले उल्लेख कर चुका हूँ, इस उद्देश्य के लिए अपनाए नहीं जा सकते।

लोगों के माल में समाज का हक़

इस्लाम व्यक्तिगत माल में समाज के हक़ ठहराता है और इसे वह विभिन्न तरीक़ों से लागू करता है। क़ुरआन में आप देखेंगे कि रिश्तेदारों के हक़ बयान किए गये हैं, इस का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति की कमाई पर उसके अपने स्वयं के अलावा उसके रिश्तेदारों का भी हक़ है। समाज के एक-एक व्यक्ति कि यह ज़िम्मेदारी है कि अगर वह अपनी आवश्यकता से अधिक धन रखता है और उसके अपने रिश्तेदार

में ऐसे लोग हैं जिन्हें आवश्यकता से कम माल मिला हुआ है, तो वह अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सहायता करे। अगर किसी क़ौम में प्रत्येक परिवार के लोग अपने इस कर्त्तव्य को महसूस करने लगें तो सामूहिक दृष्टि से ज्ञात-बन्धुओं के अधिकतर परिवारों को संभालने का प्रबन्ध हो सकता है और ऐसे परिवार बहुत कम ही बचेंगे जो बाहरी सहायता के मुहताज हों। इसीलिए आप देखेंगे कि क़ुरआन बन्दों के हक़ में सबसे पहले माँ-बाप और रिश्तेदारों के हक़ का उल्लेख करता है।

इसी प्रकार क़ुरआन मनुष्य के माल पर उसके पड़ोसियों का हक़ भी बताता है। इसका मतलब यह है कि हर मुहल्ले और हर गली और हर कूचे में जो लोग अपेक्षाकृत खुशहाल हों वे उन लोगों को संभालें जो उसी मुहल्ले गली और कूचे में बदहाल हों और सहायता के योग्य पाए जाते हों।

इन ज़िम्मेदारियों के बाद खाते-पीते आदमी पर यह ज़िम्मेदारी भी डालता है कि वह अपने सामर्थ्य के अनुसार हर उस व्यक्ति की सहायता करे जो सहायता मांगे या सहायता का मुहताज हो।

"लोगों के मालों में हक़ है मांगने वाले का और न मांगने वाले वंचित व्यक्ति का।"

—क़ुरआन

मांगने वाला वह है जो आपके पास मदद मांगने के लिए आता है। इससे अभिप्रेत ये पेशेवर भिखमंगे नहीं हैं, जिन्होंने भीख ही को रोज़ी का साधन बना रखा है। बल्कि इससे अभिप्रेत ऐसा व्यक्ति है जो वास्तव में ज़रूरतमंद हो और आप से आकर निवेदन करे कि आप उसकी मदद करें। आप यह विश्वास अवश्य प्राप्त कर लें कि यह वास्तव में ज़रूरतमंद है। लेकिन अगर मालूम हो जाए कि वह ज़रूरतमंद है

और आप के पास अपनी ज़रूरत से ज़्यादा रुपए भी हैं जिस से उस की मदद करना आप के लिए संभव है तो फिर आप को जानना चाहिए कि आप के माल में उसका भी हक़ है। रहा वंचित व्यक्ति तो इससे मुराद वही व्यक्ति है जो आप के पास मदद मांगने के लिए तो नहीं आता, मगर आप को मालूम है कि वह अपनी रोज़ी पाने से या पूरी तरह पाने से वंचित रह गया है, यह व्यक्ति भी आप के माल में हक़दार है।

इन हक़ों के अलावा इस्लाम ने मुसलमानों को अल्लाह की राह में ख़र्च करने का सामान्य रूप से आदेश देकर पूरे समाज और राज्य का हक़ भी इन मालों में क़ायम कर दिया है। इसका उद्देश्य यह है कि मुसलमान को एक दानशील, उदार हृदय, चेतनाशील और प्राणियों के प्रति सहानुभूति रखने वाला होना चाहिए और उसे स्वार्थ की किसी भावना से नहीं, बल्कि केवल अल्लाह की ख़ुशी के लिए भलाई के प्रत्येक काम में, दीन और समाज की हर ज़रूरत को पूरा करने में खुले दिल से अपना धन ख़र्च करना चाहिए। यह एक प्रभावकारी नैतिक भाव है, जिसे इस्लाम अपनी शिक्षा-दीक्षा और प्रशिक्षण से और इस्लामी समाज के सामूहिक वातावरण से प्रत्येक मुस्लिम व्यक्ति में पैदा करता है, ताकि वह किसी दबाव के बग़ैर केवल अपने दिल की ख़ुशी से सामूहिक कल्याण में सहायक हो।

ज़कात

इस स्वेच्छा पर आधारित ख़र्च के बाद एक चीज़ और है जिसे इस्लाम में अनिवार्य कर दिया गया है और वह है ज़कात, जो जमा की हुई पूंजी पर, व्यावसायिक चीज़ों पर, कारोबार की विभिन्न सूरतों पर, कृषि की पैदावार और जानवरों पर इस उद्देश्य से लागू की जाती है कि उससे उन लोगों को सहारा दिया जाए जो आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गये हैं। इन दोनों प्रकार के दान की मिसाल ऐसी है जैसे एक नफ़्ल नमाज़ है और एक फ़र्ज़। नफ़्ल नमाज़ में आप को अधिकार है जितनी चाहें पढ़ें। जितनी अधिक आध्यात्मिक उन्नति आप करना चाहते हैं, जितना कुछ अल्लाह का सामीप्य प्राप्त करना चाहते हैं, उतनी ही नफ़्ल आप अपनी इच्छा से अदा कीजिए, लेकिन फ़र्ज़ नमाज़ आप को अनिवार्य रूप से पढ़नी ही होगी। ऐसा ही मामला अल्लाह की राह में ख़र्च करने का है कि एक प्रकार का ख़र्च नफ़्ल है जो आप अपनी ख़ुशी से करेंगे, दूसरे तरह का ख़र्च वह है जो आप पर फ़र्ज़ कर दिया गया है और वह आप को अनिवार्य रूप से करना होगा, जबकि आप की पूंजी एक निश्चित सीमा से अधिक हो।

ज़कात और कर का अन्तर

ज़कात के सम्बन्ध में यह ग़लतफ़हमी आप के दिमाग़ में नहीं रहनी चाहिए कि यह कर है। वास्तव में यह कर नहीं है, बल्कि यह तो इबादत है और नमाज़ की तरह इस्लाम का एक अंग है। ज़कात और कर में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। कर वह होता है जो ज़बरदस्ती

किसी मनुष्य पर लागू किया जाता है, उसके लिए ज़रूरी नहीं है कि वह उसे ख़ुशी से स्वीकार करे। उसके लागू करने वालों के प्रति आस्था किसी के दिल में नहीं होती। उनके सत्य होने पर कोई विश्वास नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति उनके डाले हुए इस भार को ज़बरदस्ती का बोझ समझता है और उस पर नाक-भौं चढ़ाता है। उससे बचने के लिए हज़ार बहाने करता है और उसको अदा न करने के उपाय निकालता है। कर किसी के ईमान में कोई अन्तर नहीं डालता। फिर इन दोनों में सैद्धांतिक अन्तर यह है कि कर वास्तव में उन सेवाओं के ख़र्च पूरे करने के लिए लगाया जाता है, जिनका लाभ स्वयं करदाता को भी पहुंचता है। इस के पीछे बुनियादी धारणा यह होती है कि आप जिन सुविधाओं की आवश्यकता महसूस करते हैं और चाहते हैं कि सरकार के द्वारा वे सुविधायें आप को प्राप्त हो जायें, उनके लिए आप अपनी पूंजी के अनुसार उचित चन्दा दें। यह कर वास्तव में एक प्रकार का चन्दा ही है जो क़ानूनी दबाव डालकर उन सामूहिक सेवाओं के लिए आप से लिया जाता है जिन से लाभान्वित होने वालों में आप स्वयं भी शरीक हैं। इस के विपरीत ज़कात एक इबादत है। बिल्कुल उसी तरह जैसे नमाज़ एक इबादत है। कोई पार्लियामेंट या विधानसभा उस को लागू करने वाली नहीं है, बल्कि इसे अल्लाह ने लागू किया है, जिसे प्रत्येक मुसलमान अपना सच्चा उपास्य मानता है। कोई व्यक्ति अगर अपने ईमान को बचाना चाहता है तो वह ज़कात से बचने या उसमें ख़ुर्द-बुर्द करने का साहस कभी नहीं कर सकता। इसके विपरीत अगर कोई बाहरी शक्ति उस से हिसाब लेने और ज़कात वसूल करने वाली न भी हो तो एक मोमिन अपनी ज़कात का हिसाब स्वयं करके अपनी इच्छा से निकालेगा। फिर यह ज़कात सिरे से इस उद्देश्य के

लिए है ही नहीं कि उन सामूहिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाए जिन से लाभान्वित होने में आप स्वयं भी शामिल हैं, बल्कि यह केवल उन लोगों के लिए ख़ास की गयी है जो किसी न किसी तरह से धन के वितरण में अपना हिस्सा पाने से या पूरा हिस्सा पाने से वंचित रह गये हैं और किसी वजह से सहायता के मुहताज हैं। चाहे स्थाई रूप से या अस्थाई रूप से। इस प्रकार ज़कात अपनी वास्तविकता अपने मूल सिद्धान्तों और अपनी आत्मा और रूप की दृष्टि से कर से बिलकुल एक भिन्न चीज़ है। यह आप के लिए सड़कें, रेलें और नहरें बनाने और देश का अनुशासन चलाने के लिए नहीं है बल्कि कुछ विशेष हक़दारों के हक़ अदा करने के लिए अल्लाह की ओर से एक इबादत के रूप में फ़र्ज़ की गई है। ज़कात इस्लाम के पांच स्तम्भों में से एक स्तम्भ है और इस का असल फ़ायदा अल्लाह की प्रसन्नता और आख़िरत का सवाब ही है।

कर लगाने का अधिकार

कुछ लोगों को यह ग़लतफ़हमी भी है कि इस्लाम में ज़कात और ख़िराज के अलावा कोई कर नहीं है, हालांकि अल्लाह के रसूल सल्ल० ने स्पष्ट रूप से फ़रमाया है कि "लोगों के माल में ज़कात के अतिरिक्त भी एक हक़ है।" वास्तव में जिन करों को शरीअत में अनुचित बताया गया है वे क़ैसर और किसरा और उनके अधिकारी व्यक्तियों के लगाये हुये वे कर थे जिन्हें बादशाह और अधिकारी व्यक्ति की निजी सम्पति बना लिया जाता था और जिन की आमदनी तथा ख़र्च का हिसाब देने के वे ज़िम्मेदार न थे। रहे वे कर जो शूरा (मंत्रणा) के तरीक़े पर

चलने वाली सरकार लोगों की इच्छा और राय से लगाये, जिन की आमदनी जनता-कोष में जमा हो, जिन का ख़र्च भी लोगों के मशविरे से किया जाए और जिनका हिसाब देने की सरकार उत्तरदायी हो, तो ऐसे कर लागू करने पर शरीअत में कदापि कोई पाबन्दी नहीं है। अगर समाज में इस्लामी राज्य की स्थापना से पहले कोई अनुचित ऊंच-नीच पैदा हो चुकी हो या हराम तरीक़ों से कमाई हुई दौलत कुछ वर्गों में अनियंत्रित रूप से एकत्र कर ली हो, तो एक इस्लामी सरकार सम्पत्ति को ज़ब्त करने के बजाय कर लगा कर इस रोग का इलाज कर सकती है और अन्य इस्लामी क़ानूनों की मदद से धन के इस केन्द्रीकरण को समाप्त कर सकती है। सम्पत्ति को ज़ब्त करने का तरीक़ा इस्तेमाल करने के लिए अधिकारियों को ऐसे निरंकुश अधिकार देना अवश्यंभावी हो जाता है, जिन्हें पाकर वे किसी हद पर रोके नहीं जा सकते और एक ज़ुल्म की जगह उस से बड़ा ज़ुल्म क़ायम हो जाता है।

मीरास का क़ानून

इस के अलावा इस्लाम ने मीरास का एक क़ानून भी बना दिया है, जिस का उद्देश्य यह है कि एक व्यक्ति थोड़ा-बहुत जो कुछ भी छोड़ कर मरे, उसे एक निश्चित नियमानुसार ज़्यादा से ज़्यादा व्यापक क्षेत्र में फैला दिया जाए। सब से पहले मां-बाप और बीवी-बच्चे इस दौलत के अधिकारी हैं, फिर भाई-बहन, फिर क़रीबी रिश्तेदार। अगर कोई व्यक्ति बिलकुल ही लावारिस हो तो फिर पूरी क़ौम उस की वारिस है। बैतुलमाल (राज्य कोष) में उसका रुपया दाख़िल कर दिया जाएगा।

इस्लामी अर्थव्यवस्था की विशेषताएं

ये हैं वे सिद्धान्त और सीमायें जो इस्लाम ने हमारे आर्थिक जीवन के लिए निर्धारित कर दी हैं। इन सीमाओं के अन्दर रहकर आप अपनी जो भी आर्थिक व्यवस्था बनाना चाहें, बना लें। हर ज़माने में अपनी आवश्यकता के अनुसार उसे विस्तृत रूप देना हमारा अपना काम है। हमें जिस चीज़ की पाबन्दी करनी होगी, वह यह है कि हम न तो पूंजीवादी व्यवस्था की तरह निरंकुश आर्थिक रास्ता अपना सकते हैं और न साम्यवाद की तरह पूरे आर्थिक साधनों को सामूहिक कंट्रोल में ले सकते हैं। हमें एक मर्यादित एवं नियंत्रित स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करना होगा, जिस में मनुष्य के नैतिक विकास का मार्ग खुला रहे, जिस में इंसान को सामूहिक कल्याण की सेवा के लिए क़ानूनी तौर पर बाध्य करने की कम से कम आवश्यकता पड़े। जिस में ग़लत तरीक़ों से प्रकृति और मानव स्वभाव के विपरीत विभिन्न वर्ग न पैदा किये जायें और स्वभावतः जिन वर्गों का जन्म समाज में होता है उन के बीच संघर्ष के बजाय सहयोग पैदा किया जाए। इस आर्थिक व्यवस्था में धन कमाने के वे सभी साधन अवैध होंगे, जिन्हें इस्लाम ने हराम घोषित किया है और वे सभी तरीक़े वैध होंगे जिन्हें इस्लाम जायज़ कहता है। वैध तरीक़ों से प्राप्त किये हुए धन पर स्वामित्व और उपभोग के वे सभी अधिकार स्वीकार किये जायेंगे जो इस्लाम ने दिये हैं। ज़कात अनिवार्य रूप से लागू की जाएगी और उन सभी व्यक्तियों को उसे अदा करना होगा जिन के पास इतना माल हो जिस पर ज़कात वाजिब होती है। मीरास उसी के नियमानुसार बांटी जाएगी और इन सीमाओं में रह कर

लोगों के आर्थिक प्रयासों के लिए पूरी स्वतंत्रता दी जाएगी। कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बनाई जाएगी जो लोगों को कसकर रख दे और उन की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समाप्त कर दे। इस स्वतंत्र प्रयास में अगर लोग स्वयं न्याय और सत्य पर जमे रहें तो क़ानून अकारण हस्तक्षेप न करेगा, किन्तु अगर वे न्याय न करें या सीमाओं का उल्लंघन करने लगें या अनुचित प्रकार की ठेकेदारियां क़ायम करने की कोशिश करें तो इन सूरतों में क़ानून उन की बुनियादी आज़ादी को हड़प करने के लिए नहीं बल्कि उन्हें न्याय पर क़ायम रखने और सीमा-उल्लंघन को रोकने के लिए अवश्य ही हस्तक्षेप करेगा।

आर्थिक कारक (Factors) और उन का अनुपात

यहां तक मैंने पहले सवाल के पहले हिस्से का जवाब दिया है। अब इसी सवाल के दूसरे हिस्से को लीजिए, जिस में यह पूछा गया है कि इस रूप-रेखा में भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध का स्थान क्या है ? इस बात को समझने के लिए मैं आप को मशविरा दूंगा कि इस्लामी विधिशास्त्र में मुज़ारअत (साझे में खेती करना) और मुज़ारबत (साझे में कारोबार करना) का जो क़ानून बयान किया गया है उसका अध्ययन करें। वर्तमान समय के अर्थशास्त्र में भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबन्ध को जिस प्रकार आर्थिक साधनों के रूप में बयान किया गया है, उस प्रकार हमारे पहले के विद्वानों के ग्रन्थों में बयान नहीं किया गया और न इस विषय पर अलग से किताबें ही लिखी गयीं हैं। हमारे यहां ऐसी सभी बातें फ़िक़्ह (इस्लामी विधिशास्त्र) के विभिन्न अध्यायों में बयान की गयी हैं और उन की भाषा अर्थशास्त्र की वर्तमान परिभाषाओं से भिन्न

है। लेकिन जो व्यक्ति भी परिभाषाओं का दास नहीं है बल्कि अर्थशास्त्र के वास्तविक विषय और समस्याओं की समझ रखता है वह आसानी से यह समझ सकता है कि इस फ़िक़्ही ज़ुबान में जो कुछ कहा गया है उसके अन्दर आर्थिक धारणायें क्या हैं ? हमारी फ़िक़्ह में 'मुज़ारअत' और 'मुज़ारबत' का जो क़ानून बयान किया गया है वह भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबंध के सम्बन्ध में इस्लामी चिन्तन प्रणाली को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है। मुज़ारअत यह है कि भूमि एक व्यक्ति की है और उस पर खेती दूसरा व्यक्ति करता है और ये दोनों उसके फ़ायदे में हिस्सेदार होते हैं। मुज़ारबत यह है कि एक व्यक्ति का रुपया है और दूसरा व्यक्ति उस रुपये से कारोबार करता है और ये दोनों उस के लाभ में हिस्सेदार हैं। कारोबार की इन सूरतों में जिस तरह इस्लाम ने भूमि और पूंजी वाले और उस पर काम करने वाले के हक़ स्वीकार किये हैं उस से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि इस्लाम की दृष्टि से भूमि भी एक आर्थिक साधन है और मनुष्य की मेहनत भी, पूंजी भी एक आर्थिक कारक है और उस पर इन्सान की मेहनत और प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता भी। ये सब कारक लाभ में हिस्सेदारी का हक़ पैदा कर देते हैं। इस्लाम प्रारम्भिक रूप में इन विभिन्न कारकों के बीच हिस्सेदारी का निर्धारण जन-सामान्य में प्रचलित रीति और दस्तूर पर छोड़ देता है ताकि अगर सामान्य रीति के अनुसार लोग स्वयं परस्पर न्याय कर रहे हों तो क़ानून हस्तक्षेप न करे। लेकिन अगर किसी मामले में न्याय न हो रहा हो तो अवश्य ही क़ानून का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इस में न्याय की सीमाएं निर्धारित करे। उदाहरणतः अगर मैं भूमि का स्वामी हूं और एक व्यक्ति को अपनी ज़मीन बटाई पर देता हूं या किसी व्यक्ति से मज़दूरी पर खेती का काम लेता हूं या किसी को ठेके पर काम देता हूं और उसके

साथ मेरी शर्तें सामान्य रीति के अनुसार न्यायपूर्वक तय होती हैं तो क़ानून को हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन अगर मैं अन्याय करूं तो क़ानून को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। क़ानून इसके लिए नियम निर्धारित कर सकता है कि मुज़ारअत इन सिद्धान्तों पर इन नियमों के अनुसार होनी चाहिए ताकि न ज़मीन वाले का हक़ मारा जाए और न मेहनत करने वाले का हक़। इसी प्रकार कारोबार में पूंजी लगाने वालों और परिश्रम और प्रबन्ध करने वालों के बीच भी जब तक न्यायसंगत रूप से स्वयं मामले तय हो रहे हों और कोई किसी का हक़ न मार रहा हो, न किसी पर ज़्यादती कर रहा हो तो क़ानून हस्तक्षेप नहीं करेगा। हां, जब इन मामलों में किसी तरह का अन्याय आ जाएगा तो इस सूरत में न केवल यह कि क़ानून को हस्तक्षेप का हक़ है, बल्कि यह उसका कर्त्तव्य है कि उनके लिए ऐसे न्यायसंगत नियम नियत करे जिन के अनुसार पूंजी, श्रम और प्रबन्ध सब के सब कारोबार के लाभ में न्याय के साथ हिस्सेदार बन जाएं।

दूसरे प्रश्न का उत्तर

अब दूसरे प्रश्न को लीजिए। पूछा गया है कि क्या ज़कात और सदक़े को आर्थिक कल्याण के लिए प्रयोग किया जा सकता है ? इस का उत्तर यह है कि ज़कात और सदक़ा तो है ही आर्थिक कल्याण के लिए। लेकिन इस बात को अच्छी तरह समझ लीजिए कि अगर आर्थिक विकास की कल्पना यह हो कि सामूहिक रूप से पूरे देश की आर्थिक उन्नति के लिए ज़कात को इस्तेमाल किया जाए तो यह जायज़ नहीं है जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं कि ज़कात वास्तव में इस उद्देश्य

के लिए है कि समाज में कोई व्यक्ति अपनी अनिवार्य जीवन आवश्यकताओं—खाना, कपड़ा, मकान, इलाज और बच्चों की शिक्षा—से वंचित न रहने पाये और हम अपने समाज के उन सभी लोगों के लिए आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करें जो या तो अपनी रोज़ी के लिए प्रयास करने के योग्य ही न हों जैसे, यतीम, बच्चे, बूढ़े और अपंग लोग या वे लोग जो अस्थाई रूप से बेरोज़गार हो गए हों या उपयुक्त साधनों की कमी के कारण अपनी रोज़ी कमाने की कोशिश न कर सकते हों और कुछ सहायता पाकर अपने पावों पर खड़े हो सकें या किसी नुक़सान के चक्कर में आ गए हों। ज़कात इस तरह के लोगों की सहायता के लिए है। आम आर्थिक उन्नति के लिए आप को दूसरे उपाय तलाश करने होंगे।

तीसरे प्रश्न का उत्तर

तीसरा प्रश्न यह किया गया है कि क्या हम ब्याज मुक्त आर्थिक व्यवस्था क़ायम कर सकते हैं ? इसका जवाब यह है कि हम ऐसा अवश्य कर सकते हैं। पहले भी शताब्दियों तक ऐसी व्यवस्था क़ायम रही है। अगर आप आज भी इसे क़ायम करना चाहें और दूसरों की अंधी पैरवी से निकल आयें तो इस का क़ायम करना मुश्किल नहीं है। इस्लाम के आने से पहले दुनिया की आर्थिक व्यवस्था उसी प्रकार ब्याज पर चल रही थी जिस प्रकार आज चल रही है। इस्लाम ने उसे बदला और ब्याज को हराम (अवैध) घोषित कर दिया। पहले वह अरब में हराम हुआ फिर जहां-जहां इस्लाम की हुकूमत होती गयी वहां ब्याज वर्जित होता गया और पूरी आर्थिक व्यवस्था उसके बिना

चलती रही। यह व्यवस्था शताब्दियों तक चलती रही है। अब कोई कारण नहीं कि वह न चल सके। अगर हमारे अन्दर इजतिहाद (क़ुरआन और हदीस की रोशनी में ऐसे मसले मालूम करना जिनका स्पष्ट वर्णन उन में मौजूद न हो) की शक्ति हो और हम ईमानी ताक़त भी रखते हों और हमारा यह इरादा भी हो कि जिस चीज़ को अल्लाह ने हराम किया है उसे समाप्त करें तो निश्चय ही आज भी हम उसे समाप्त कर के सारे वित्तीय और आर्थिक मामले चला सकते हैं। मैं अपनी किताब 'सूद' (ब्याज) में स्पष्टतः बता चुका हूं कि वास्तव में इस में कोई बहुत बड़ी मुश्किल नहीं है। यह मसला बिल्कुल स्पष्ट है। पूंजी का यह हक़ नहीं है कि वह क़र्ज़ की शक्ल में आये और एक निश्चित लाभ प्राप्त करे, चाहे इस रुपये पर मेहनत करने वालों और प्रबन्ध सम्बन्धी सेवा करने वालों को लाभ प्राप्त हो या न हो। ब्याज में असल ख़राबी यही है कि एक व्यक्ति या एक संस्थान अपनी पूंजी को उद्योग, व्यापार या कृषि को क़र्ज़ के रूप में देता है और देने से पहले अपना ख़ास मुनाफ़ा तय कर लेता है। उसको इस बात से कोई मतलब नहीं होता कि निश्चित अवधि के अन्दर उस कारोबार में नुक़्सान हो रहा है या फ़ायदा और फ़ायदा हो रहा है तो कितना हो रहा है। वह तो साल के साल या महीने के महीने अपना निश्चित लाभ वसूल करता चला जाता है और मूल की वापसी का भी अधिकारी रहता है। इसी चीज़ को हमें ख़त्म करना है। दुनिया का कोई व्यक्ति इसे उचित सिद्ध नहीं कर सकता और इसे वैध और उचित ठहराने का कोई कारण पेश नहीं किया जा सकता। इस के विपरीत इस्लाम जो सिद्धान्त पेश करता है वह यह है कि अगर आप क़र्ज़ देते हैं, तो क़र्ज़ की तरह दीजिए, सिर्फ़ अपना क़र्ज़ वापिस लेने का आप को अधिकार है और अगर

आप मुनाफ़ा हासिल करना चाहते हैं तो फिर सीधी तरह शरीक या हिस्सेदार बन कर मामला कीजिए। अपना रुपया खेती में या व्यापार में या उद्योग में जिस में भी आप लगाना चाहते हैं इस शर्त के साथ लगाइए कि उस में जितना भी मुनाफ़ा होगा वह एक ख़ास अनुपात से आप के और काम करने वालों के बीच बट जाएगा। यह इंसाफ़ का तक़ाज़ा भी है और इस तरह से आर्थिक जीवन भी फल-फूल सकता है। क्या कठिनाई है ब्याज के तरीक़े को समाप्त करके इस दूसरे तरीक़े को अपनाने में ? जो रुपया अब क़र्ज़ के रूप में लगाया जाता है वह अब भागीदारी के सिद्धान्त पर लगाया जाए। हिसाब जिस प्रकार ब्याज का हो सकता है उसी प्रकार लाभ का हो सकता है। कोई ख़ास मुश्किल इस में नहीं है। बात सिर्फ़ इतनी है कि हमारे अंदर इस बात की योग्यता नहीं है कि हम किताब व सुन्नत को सामने रख कर इस सम्बन्ध में रास्ता खोज सकें बल्कि हमें आंख बन्द कर के पीछे चलने की आदत पड़ी हुई है। जो पहले से होता चला आ रहा है वही हम आंखें मूंद कर के चलाये जायेंगे, किताब व सुन्नत को सामने रख कर कोई रास्ता तलाश करें, ऐसा हम नहीं करेंगे—मौलवी बेचारे को ताना दिया जाता है कि वह अंधा अनुसरण करता है और किताब व सुन्नत की रोशनी में रास्ता नहीं निकालता, हालांकि वह स्वयं अंधे अनुयायी हैं और किताब व सुन्नत को सामने रख कर हल तलाश करने के लिए तैयार नहीं हैं। यह बीमारी अगर लगी हुई न होती तो अब तक यह समस्या हल हो चुकी होती।

चौथे प्रश्न का उत्तर

आख़िरी प्रश्न यह है कि इस्लाम की दृष्टि में आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इस का जवाब यह है कि इन में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि जड़ से तने का और तने से शाखाओं का और शाखाओं से पत्तों का होता है । एक ही व्यवस्था है जो अल्लाह की तौहीद (एकेश्वरवाद) और रसूलों की रिसालत पर विश्वास से पैदा होती है । इसी से नैतिक व्यवस्था बनती है । इसी से इबादतों की व्यवस्था बनती है । इसी से सामाजिक व्यवस्था निकलती है । इसी से आर्थिक व्यवस्था का जन्म होता है । इसी से राजनैतिक व्यवस्था का आर्विभाव भी । ये सारी चीज़ें एक दूसरे के साथ अनिवार्य हैं । अगर आप अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान रखते हैं और क़ुरआन को अल्लाह की किताब मानते हैं तो आप को अनिवार्यतः उन्हीं नैतिक सिद्धान्तों को अपनाना पड़ेगा, जिनकी शिक्षा इस्लाम ने आपको दी है और राजनीति के वही सिद्धान्त अपनाने पड़ेंगे जो इस्लाम ने आप को दिए हैं । उसी के सिद्धान्तों पर आप को अपने समाज का निर्माण करना होगा और उसी के सिद्धान्तों पर अपने आर्थिक जीवन का सारा कारोबार चलाना होगा । जिस अक़ीदे की वजह से आप नमाज़ पढ़ते हैं [illegible] अक़ीदे की वजह से आप को व्यापार करना पड़ेगा । जिस दीन की नियमावली आप के रोज़े और हज को व्यवस्थित करती है उसी दीन के नियमों का पालन आप को अपनी अदालत में भी करना होगा और अपनी मन्डी में भी । इस्लाम में धार्मिक व्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही व्यवस्था के विभिन्न विभाग और

अंश हैं जो एक दूसरे के साथ जुड़े और विलीन भी होते हैं और एक दूसरे से ताक़त भी हासिल करते हैं। अगर तौहीद (एकेश्वरवाद) रिसालत और आख़िरत का अक़ीदा मौजूद न हो और इस से पैदा होने वाले नैतिक मापदण्ड मौजूद न हों तो इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था कभी स्थापित नहीं हो सकती और स्थापित की भी जाए तो चल नहीं सकती। इसी प्रकार इस्लाम की राजनैतिक व्यवस्था भी न स्थापित हो सकती है न चल सकती है अगर अल्लाह, रसूल और आख़िरत पर अक़ीदा और क़ुरआन पर ईमान न हो, क्योंकि इस्लाम जो राजनैतिक व्यवस्था देता है उसका आधार ही इस अक़ीदे पर है कि अल्लाह सर्वोच्च शासक है, रसूल सल्ल० उसके प्रतिनिधि हैं, क़ुरआन उसका आदेश है, जिसका पालन अनिवार्य है और हम को आख़िरकार अपने कर्मों का हिसाब अल्लाह को देना है। अतः यह विचार ही सिरे से ग़लत है कि इस्लाम में कोई राजनैतिक या आर्थिक व्यवस्था धार्मिक और नैतिक व्यवस्था से अलग और असम्बद्ध भी हो सकती है। जो व्यक्ति इस्लाम को जानता हो और जान कर उसे मानता हो वह कभी इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकता कि मुसलमान होते हुए उसकी राजनीति और अर्थनीति या उसकी ज़िन्दगी का कोई भाग उसके दीन से जुदा हो सकता है, या राजनीति और अर्थनीति, अदालत और क़ानून में इस्लाम से मुक्त होकर या इस्लाम के अलावा कोई दूसरी प्रणाली अपनाकर सिर्फ़ 'धार्मिक' मामलों में उसकी पैरवी करने का नाम भी इस्लामी ज़िन्दगी है।

— ० —

सूची